ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 **PP. No.- 52-55**

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.-III, Issues-37, YEAR- July-Sept. 2025

लोकतांत्रिक समेकन एवं गहराई

डॉ0 भारतेन्दू

एम0 ए0, पी–एच0 डी0 – समाजशास्त्र, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार) भारत

Received-25.07.2025, Revised-03.08.2025, Accepted-10.08.2025 **E-mail : inghbhartendu770@gmail.com**

सारांशः ***लोकतांत्रिक समेकन से तात्पर्य एक ऐसी प्रक्रिया से है, जिसकी पहचान सामाजिक संघर्षों के एकमात्र वैध एवं स्वीकार्य समाधान के साधन के रूप में हुई है। विभिन्न बुद्धिजीवियों तथा सामाजिक अभिजनों के मध्य राज्य की लोकतांत्रिक संस्थाओं को मजबूत करने जैसे साधनों के रूप में लोकतंत्र को स्वीकार किया जा चुका है। इसपर लगभग सभी एकमत है कि नेहरू के व्यक्तित्व और उनकी लोकतंत्र के प्रति समर्पण भावना, एक सुदृढ़ कार्यरत सिविल सेवा और लोकप्रिय राजनीतिक दल कांग्रेस ने लोकतांत्रिक समेकन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।***

पंडित नेहरू की मृत्यु के बाद 1967 में होने वाले चौथे आम चुनाव ने पहली बार सत्ता पर कांग्रेस के एकाधिकार को तोड़ा। पिछड़े समुदायों ने बड़ी संख्या में इसमें हिस्सा लिया। कांग्रेस केंद्र में आवश्यक बहूमत किसी तरह जुटा तो पाई पर आधे राज्यों में उसे अपनी सत्ता गंवानी पड़ी। कामराज एवं एस.के. पाटिल जैसे दिग्गज चुनाव हार गए। इस चुनाव ने कांग्रेस–प्रणाली का अंत कर दिया, यद्यपि कांग्रेस में कामराज योजना के तहत् वरिष्ठ नेताओं को संगठन के काम में लगा देने, कांगेस में ही क्षेत्रीय सूबेदारों का सिंडीकेट उभरने और दक्षिण में पिछड़ों की राजनीति की शुरूआत होने के फलस्वरूप सत्ता के चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन आ गया था। शहरों में ऊँचा दर्जा रखने वाले अभिजनों एवं गांवों के संपत्तिशाली वर्गों को जोड़कर कांग्रेस जो अपराजेय राजनीतिक मशीन बन गई थी, 1967 के निर्वाचन के बाद उसमें बदलाव के संकेत परिलक्षित होने लगे।

कुंजीभूत शब्द– **लोकतांत्रिक समेकन, सामाजिक संघर्ष, समुदाय, गुणात्मक परिवर्तन, अपराजेय राजनीतिक मशीन, निर्वाचन /**

1969 में आरंभ हुए घटनाक्रम ने कांग्रेस को और भी कमजोर किया। इसी वर्ष कांग्रेस में पहला बड़ा विभाजन हुआ। तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के नेतृत्व में पार्टी की संसदीय इकाई सांगठनिक इकाई से अलग हो गई। कई और घटनाएं भी साथ–साथ हो रही थी। हरित क्रांति ने जहां खाद्यान्नों के उत्पादन में भारत को आत्मनिर्भर बनाने में मदद की तो दूसरी ओर, खेतिहर जमीन के मालिकों में समता की मांग करता हुआ वामपंथी आंदोलन आगे बढ़ रहा था। इसने आमूल परिवर्तन का आग्रह रखने वाले युवाओं की पीढ़ी को अपनी ओर आकर्षित किया। 1967 में ही पहली बार संसदीय संप्रभुता और न्यायपालिका के मध्य न्यायिक समीक्षा को लेकर तनाव उत्पन्न हो गए। न्यायपालिका ने गोलकनाथ बनाम् पंजाब राज्यण् 1967 के बाद में निर्णय दिया कि संसद संविधान के भाग तीन अर्थात् मौलिक अधिकार में संशोधन नहीं कर सकती। अनुच्छेद 368 में संशोधन की प्रक्रिया व्यक्त की गई है, न कि शक्ति।

1971 में स्थिति फिर बदली। गरीबी हटाओ के नारे के दम पर इंदिरा गांधी ने निर्णायक चुनावी जीत हासिल की। नेहरूवादी समाजवाद को इंदिरा गांधी ने बड़ी ही आकर्षक एवं लुभावनी नीतियों के साथ जोड़ दिया। सभी बड़े बैंकों और कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया। पूर्व महाराजाओं के 'प्रीवी पर्स' को समाप्त करना भी इन नीतियों में शामिल था। इन लोकप्रिय नीतियों एवं समर्थन से इंदिरा गांधी की शक्ति के संकेंद्रण की प्रवृत्ति बढ़ी गई, समर्पित चपलूसों को विभिन्न लोक–पद वितरित कर दिए गए। जिन्होंने उन्हें चुनौती दी, उन्हें दबाने की कोशिश की गई और सहन न किए जाने की स्थिति में 1975 में संविधान के अनुच्छेद 352 का सहारा लेकर राष्ट्रीय आपात की घोषणा कर दी गई। इससे नागरिक स्वतंत्रता व लोकतांत्रिक अधिकारों का तो क्षरण हुआ ही, साथ 42वें संविधान संशोधन द्वारा लोकतांत्रिक संस्थाओं को भी चोट पहुंचाई गई। संघवाद की मूल प्रवृत्ति को मूल प्रवृत्ति को नष्ट करने और नौकरशाही का राजनीतिकरण करने की भरपूर कोशिश हुई। 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनी और इसने भी अंत्योदय योजना के माध्यम से लोकलुभावन नीतियों को आगे बढ़ाया। 1980 में इंदिरा गांधी पुनः सत्ता में आई और 1984 में उनकी हत्या के बाद राजीव गांधी ने उनकी नीतियों को आगे बढ़या।

1977 एवं 1980 के चुनाव परिणामों पर कई टिप्पणीकारों ने मतदाताओं को पहले बधाई दी और फिर उनकी भर्त्सना की। बधाई श्रीमती गांधी को हटाने के लिए 'परिपक्वता' दिखाने के लिए और भर्त्सना हड़बड़ी में फिर से उन्हें जिताने की नादानी करने के लिए। वास्तव में, ये चुनावी लहरें वोटरों की राजनीतिक अनुभवहीनता का परिणाम नहीं थीं। ये परिणाम बता रहे थे कि लोगों के मानस पर चुनाव की एक नई अंकित हो गई है और अब वे राजनीतिक दुराचरण का कोई प्रमाण मिलते ही अपनी नाराजगी को वोट के माध्यम से व्यक्त कर देते हैं। 90 के दशक से स्थितियां थोड़ी तीव्र गति से बदलीं। एकदलीय प्रभुत्व प्रणाली का अंत हो चुका था। कई दलों के सहयोग से सरकार बनने लगी थी। 1991 में नरसिम्हाराव की अल्पसंख्यक सरकार ने आर्थिक सुधारों की शुरूआत करके क्षेत्रीय सरकारों को ज्यादा अधिकार दिए थे। इन सरकारों पर कब्जा जमाने के लिए प्रतियोगिता और बढ़ गई। राजनीतिक होड़ की तीव्रता ने क्षेत्रीय राजनेताओं की एक नई पीढ़ी पैदा की। इन नेताओं का राजनीतिक कौशल असाधारण था और उनमें जनता की सांस्कृतिक संवेदना को स्पर्श करने के नए–नए तरीके खोजने की क्षमता थी। 1996 में गठित संसद मे 28 पार्टियों ने भागीदारी की। यह संख्या पहले से कहीं ज्यादा थी और इनमें से ज्यादातर सांसद क्षेत्रीय पहचान वाली पार्टियों से चुनकर आए थे। ऐसी प्रवृत्ति अब निरंतरता के साथ हमारे समक्ष है।

लेकतांत्रिक समेकन की दिशा में अन्य कई समकालीन विषय थे, जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे जैसे – न्यायिक सक्रियता, निर्वाचन आयोग की बदलती भूमिका, पंचायती राज, सूचना का अधिकार।[1]

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था संविधानवाद की सीमित सरकार वाली राजनीतिक संकल्पना पर आधारित है। इस संकल्पना के तहत् संविधान की सर्वोच्चता होती है और संसद द्वारा विधि, संविधान के अनुसार ही अधिनियमित की जाती है। अतः सरकार के कामकाज संविधान में उपबंधित नियमों से सीमित हो जाते हैं। इसके लिए भारत के नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिए गए हैं, जिसमें राज्य अतार्किक रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकता। आपातकाल की स्थिति में भी नागरिकों के मूल अधिकार (अनुच्छेद 20 एवं 21) प्रतिबंधित नहीं किए जा सकते। इसके साथ ही राज्य को निर्देशित कुछ नीतियों का भी संविधान के भाग 4 में प्रावधान किया गया

अनुरूपी लेखक/ संयुक्त लेखक

है, ताकि विधि अधिनियमित किए जाने के समय उन प्रावधानों के अनुसार राज्य के कल्याणकारी स्वरूप को स्थापित किया जा सके। इसके लिए स्वतंत्र न्यायपालिका का होना आवश्यक हैं भारतीय न्यायपालिका ने लोकतांत्रिक समेकन के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। चूंकि भारतीय संविधान निर्माताओं ने ब्रिटेन की संसदीय संप्रभुता और अमेरिकी न्यायिक समीक्षा के बीच संतुलन स्थापित किया है। अतः उच्चतम न्यायलय समय–समय पर संसदीय संप्रभुता के एकपक्षीय आग्रह को न्यायिक समीक्षा के माध्यम से संतुलित करता रहा है। इसी के साथ–साथ एक नई संकल्पना नयायिक सक्रियता (Judicial Activism) का विकास हुआ, जिसकी गति 70 के दशक के उत्तरार्द्ध में काफी तीव्र तब हो पाई जब जनहित याचिका की शुरूआत हुई। न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने कहा भी है, "जिन व्यवस्थाओं में न्यायिक समीक्षा का अधिकार है, वहीं न्यायिक सक्रियता होती है। न्यायिक सक्रियता का स्वरूप तकनीकी एवं सामाजिक होता है।"

सर्वोच्च न्यायालय ने 1951 के रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य, 1952 के शंकरी प्रसार बनाम भारत संघ एवं 1965 के सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य के वाद में मूल अधिकारों में संशोधन से संबंधित निर्णय में कहा कि – हमारे संविधान का कोई ऐसा भाग नहीं जिसका अनुच्छेद 368 द्वारा संशोधन नहीं किया जा सकता। मूल अधिकार एवं अनुच्छेद 368 स्वयं भी इसमें शामिल है।[2] 1965 तक न्यायपालिका की भाषा लगभग वैसी ही थी जैसी राजनीतिक व्यवस्था की थी। लेकिन दोनों के मध्य पहली बार आमना–सामना 1967 के गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के वाद में हुआ। इस वाद में विशेष रूप से संपत्ति के मौलिक अधिकार तथा नेहरू काल के भूमि सुधार अधिनियमों को चुनौती दी गई थी। निर्णय में कहा गया कि – अनुच्छेद 368 संविधान संशोधन के लिए केवल प्रक्रिया का वर्णन करता है न कि शक्ति का। संसद मौलिक अधिकार के अध्याय में किसी भी प्रकार का संशोधन नहीं कर सकती और यदि करना हो तो नई संविधान सभा का गठन करना होगा, अन्यथा उसके द्वारा पारित संबंधित अधिनियम अवैध होगा।

आगे चलकर 1973 के केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 368 के तहत् मौलिक अधिकार में संशोधन तो किया जा सकता है, लेकिन संविधान के कुछ मूल ढांचे हैं, जिसमें न तो संशोध नही किया जा सकता है और न ही वे बदले जा सकते हैं। इसी वाद में न्यायिक समीक्षा को संविधान का मूल ढांचा घोषित कर दिया गया। न्यायपालिका ने यह भी कहा कि मूल ढांचे क्या होंगे उसे न्यायपालिका परिभाषित करेगी। यद्यपि 42वें संविधान द्वारा फिर से संसदीय संप्रभुता को स्थापित करने की कोशिश की गई, लेकिन 44वें संविधान संशोधन तथा 1980 के मिनर्वा मिल्स के वाद के निर्णयों में फिर से संतुलन स्थापित करने का सफलतम प्रयास किया गया।[3] उसी कड़ी में 2000 के दशक के मध्य में सर्वोच्य न्यायालय ने सर्वसम्मति से यह निर्णय दिया कि 24 अप्रैल 1973 के पूर्व 9वीं अनुसूची में डाले गए विषयों पर तो न्यायिक समीक्षा नहीं हो पाएगी लेकिन उस तिथि के बाद डाले गए सभी विषयों पर न्यायिक समीक्षा की जा सकती है। ये सारे वाद संविधानवाद तथा संसदीय प्रभुता के बीच उत्पन्न तनाव के समाधान से संबंधित हैं, जिसे लोतात्रिक प्रक्रिया बड़ी ही चतुराई से समायोजित कर पाई। इसके पूर्व 1979 तथा 1980 में क्रमशः हुसैनारा खातून एवं सुनील बत्रा के न्यायाधीशों को भेजे पत्र को पहली और दूसरी जनहित याचिका के रूप स्वीकार किया गया। इस जनहित याचिका ने न्यायिक सक्रियता को गति प्रदान की। इस न्यायिक सक्रियता के माध्यम से उच्चतम न्यायालय ने मौलिक अधिकार के संरक्षण से लेकर शुद्ध हवा, शुद्ध पानी एवं शुद्ध खून की उपलब्धता से संबंधित निर्णय दिए। भ्रष्टाचार के मामले में भी इसी तकनीक के माध्यम से उच्चतम न्यायालय का हस्तक्षेप संभव हो पाया।

लोकतांत्रिक समेकन की दिशा में निर्वाचन आयोग की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। जब जनादेश विखंडित मिलने लगे, मतदान व्यवहार को बहुत सारी चीजें तेजी से प्रभावित करने लगीं, राजनीति का अपराधीकरण एवं अपराधों का राजनीतिकरण होने लगा, ऐसे में निर्वाचन आयोग ने अपने संवैधानिक दायित्व को बखूबी निभाया। 600 मिलियन निर्वाचकों, जिसके 57 प्रतिशत मत देते हैं, के लिए स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मतदान कराना, एक दुरूह कार्य है। यह निर्वाचन आयोग की विश्वसनीयता का ही प्रतीक है कि पश्चिमी मतदान व्यवहार के विपरीत, भारत में राष्ट्रीय सरकार के निर्वाचन की तुलना में राज्यों एवं स्थानीय स्वशासन के निर्वाचन में लोगों की सहभागिता अधिक होती है। इसके साथ ही गरीबों, निरक्षर लोगों और कथित रूप से निम्न जातियों एवं वर्गों में मतदान का प्रतिशत, शिक्षित, अमीरों और कथित रूप से उच्च जातियों एवं वर्गों की तुलना में अधिक रहा है।[4] इनके लिए निर्वाचन एवं लोकतांत्रिक प्रक्रिया एक उत्सव के रूप में अता है। भले ही उनके मतदान व्यवहार के केंद्र में उनकी जाति एवं काला धन ही क्यों न हो। पिछले बिहार विधान सभा के निर्वाचन में पुरूषों की तुलना में महिलाओं का मतदान प्रतिशत अधिक रहा है। इस प्रकार की जागरूकता, सहभागिता एवं राजनीतिक सक्रियता के पीछे भारतीय निर्वाचन आयोग की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

लोकतांत्रिक समेकन की दिशा में पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। रूडोल्फ के अध्ययन से स्पष्ट है कि अशिक्षित, गरीब, निम्न जातियों एवं वर्गों के लोगों का मतदान प्रतिशत ज्यादा है, भारत में इसी तबके ने शक्ति के विकेंद्रीकरण के इस प्रारूप को सफल बनाया। भारतीय संघ अपने आप में मौलिक इसलिए भी है कि संघवाद केवल केंद्र राज्य संबंधों की बात नहीं करता, बल्कि तीन स्तरीय स्थानीय स्वशासन के माध्यम से तृणमूल स्तर तक लोकतांत्रिक मूल्यों को स्थापित भी करता है। इसे 1992 में 73वें संविधान संशोधन द्वारा और भी अधिक प्रभावी बनाया गया। शासन के इस प्रारूप के अन्य लाभ भी हैं, जैसे – आम–आदमी और निचले स्तर के आंदोलन एवं केंद्रीकृत नौकरशाही संरचना पर आधारित योजना के बीच एक अहिंसात्मक मध्यम मार्ग निकलता है, संसाधनों के दोहन एवं उनके अनुप्रयोग को तृणमूल स्तर तक पहुंचाया है, तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था की संकल्पना को मजबूत प्रदान की है।[5] राजनीतिक विशेषज्ञ सुब्राता मिश्रा के अनुसार सामान्य रूप में, भारत में राज्य सरकार और केंद्र सरकार की तुलना में पंचायती राज व्यवस्था पर लोगों का विश्वास अधिक है। वे शासन करने और शासन होते हुए देख पाते हैं, उन्हें महसूस कर पाते हैं। प्रतिनिधियों से सीधे प्रश्न पूछते हैं और उन पर प्रभावी दबाव भी बनाते हैं। राज्य विधानसभा सदस्य और संसद सदस्य तो उनकी पहुंच के बाहर ही हैं।

लोकतांत्रिक समेकन की दिशा में 2005 में अधिनियमित सूचना का अधिकार एक क्रांतिकारी कदम है। कोई भी भारतीय नागरिक सरकारी कार्यालायों से कुछ अपवाद को छोड़कर कोई सूचना ले सकता है। यह इस विश्वास पर टिका है कि शासक और शासितों के मध्य समानता पर आधारित संवाद एवं विमर्श की प्रक्रिया शुरू हो पाए। इससे एक तो, लोगों की शासन के प्रति समझ में वृद्धि हो रही है और दूसरी ओर, नीति–निर्माण एवं कार्यान्वयन की प्रक्रिया में पारदर्शिता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार होता दिखता है। यद्यपि इस कानूनी अधिकार के कुछ गलत प्रयोग भी हो रहे हैं और दूसरी ओर ऐसे सूचना मांगने वाले मौत का शिकार भी हो रहे हैं। समकालीन समय में, इस विषय पर शासक एवं शासितों के मध्यय एक विमर्श शुरू होना शेष है कि इसे और अधिक प्रभावी और मजबूत कैसे बनाया जाए।

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.-III, Issues-37, YEAR- July-Sept. 2025

लोकतंत्र लोकतांत्रिक प्रक्रिया औपचारिक कानूनी समानता को सुनिश्चित करती है, न कि सामाजिक–आर्थिक समानता को। अतुल कोहली कहते हैं कि पिछले पांच दशकों में भारत में लोकतंत्र न केवल जड़ जमा चुका है, बल्कि भारतीय सामाजिक संरचना के भीतर भी गहराई से प्रसारित है। लोकतंत्र न केवल स्वतंत्र रूप से निर्वाचन का अधिकार देता है, बल्कि अपने विरोध के स्वर को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं संस्था–निर्माण का अधिकार भी देता है, ताकि अपनी मांगों को संगठित रूप से शासन के समक्ष रख सकें। कोहली कहते हैं कि लोकतंत्र ने भारतीय कठोर और जटिल सामाजिक विषमताओं को कमजोर किया है और विशेष रूप से समाज के निम्न वर्ग के लोगों के लिए एक अर्थपूर्ण रूप में स्थापित हो पाया है।

माइनर वीनर ने अपने अध्ययन में पाया कि भारतीय लोकतंत्र ने स्वयं को समावेशी सिद्ध किया है, निम्न एवं मध्यम जाति के लोगों को राजनीतिक व्यवस्था में शामिल किया गया। यह कैसे हो पाया, इस प्रश्न के उत्तर में वीनर कहते हैं कि दीर्घकाल से ही अ–जातिगत विचारधाराओं (nti-caste idealogiè) का प्रसार किया जाना, प्रतिस्पर्धात्मक राजनीतिक गतिशीलता का अवसर दिया जाना। इसकी शुरूआत सर्वप्रथम कांग्रेस ने की बाद में अन्य दलों ने भी इस रणनीति को अपनाया। एक दूसरी नीति थी – आरक्षण का प्रयोग। इसके माध्यम से निम्न और मध्यम जातियों के लिए राजनीति, नौकरशाही और शैक्षणिक संस्थाओं में कुछ स्थानों को आरक्षित कर दिया गया। आरक्षण का प्रावधान कुछ कम अन्यायपूर्ण समाज बनाने के अस्थायी उपाय की तरह था। लेकिन विडंबना यह रही कि जाति की शाश्वत और अंदर से समरूप जाने वाली श्रेणियां खत्म करने की इच्छा ने जाति को राजनीतिक पहचान का माध्यम बना कर नई ताकत दे दी। चुनाव के समय नेताओं ने समाज के नाम पर आरक्षण का प्रतिशत बढ़ाने और उसे नवनिर्धारित पिछड़े वर्गों को देने का वायदा करने का रवैया बना लिया।

जाति एवं लोकतंत्र से संबंधित एक अन्य विमर्श रजनी कोठारी और रूडोल्फ का भी है। प्रो0 कोठारी कहते हैं कि – जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रूकावट नहीं डालती बल्कि इसे बढ़ाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।[6] जयप्रकाश नारायण ने जाति को भारत में एक महत्त्वपूर्ण दल के रूप में परिभाषित किया है। दूसरी ओर ग्रेनविल ऑस्टिन मानते हैं कि स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दबाव गुट।[7] प्रो. कोठारी कहते हैं कि राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति के राजनीतिकरण से है। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर, राजनीति द्वारा जाति या बिरादरी को देश के संसाधन तथा राजनीतिक व्यवस्था तक पहुंचने का मौका मिलता है। इससे पुराना समाज नई राजनीतिक व्यवस्था के निकट आया है। रूडोल्फ भी मानते हैं कि जाति संघों ने जाति को नवीन स्फूर्ति प्रदान की है और भारत में जनतंत्र ने जातियों को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभाने योग्य बनाया है। जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परंपरावादी व्यवस्था को आधुनिकता में ढालने के सांचे का कार्य किया है। अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में प्रतिनिधिक लोकतंत्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके, उन्हे अधिक समान बनाकर समानता कि विकास में सहायता दी है।[8]

जाति एवं वर्ग के अतिरिक्त भारतीय लोकतंत्र के समेकन और गहराई की प्रवृत्ति को सामाजिक आंदोलन ने भी खूब पोषण दिया है। मैरी केटजेन्स्टीन (Mary Katzenstein) एवं उनके सहयोगियों का मत है कि भारतीय लोकतंत्र को विभिन्न सामाजिक आंदोलनों ने मजबूत किया है। इसने लोकतंत्र की सहभागी को बढ़ाया है। ये सामाजिक आंदोलन भारत में 'पहचान' जैसे विषयों – जाति, धर्म, भाषा से शुरू हुए और बाद में विशिष्ट हितों के साथ जुड़ गए, उदाहरणस्वरूप – महिला हितों, पर्यावरणीय या आर्थिक हितों से संबंधित आंदोलन। इनके तहत् सेवा (SEWA) और नर्मदा बचाओं आंदोलन आदि को रखा जा सकता है। कालांतर में ऐसे आंदोलन ने स्थानीय और क्षेत्रीय आंदोलनों के साथ मिल कर अपनी रणनीति आगे बढ़ाई। कुछ सामाजिक आंदोलन ऐसे भी हुए जिन्होंने प्रारंभिक स्तर पर सक्रियता दिखाई, जैसे– मजदूर किसान शक्ति संगठन (MKSS) इनके गंभीर प्रयास का ही परिणाम (अन्य प्रयासों के साथ) था कि भारत में सूचना के अधिकार जैसे कानूनी अधिकार भारतीय नागरिकों को मिल पाए। ऐसा ही आंदोलन, भ्रष्टाचार के खिलाफ अन्ना टीम द्वारा किया गया। उसने स्थानीय स्तर से शुरू होकर क्षेत्रय और राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक गतिशीलता और जागरूकता में वृद्धि की।

उपर्युक्त सारे विमर्श भारत में लोकतंत्र के स्थायित्व और निरंतरता का भरपूर समर्थ करते हैं। विविधता में एकता जैसे मूल्यों को भारतीय संविधान एवं राज्य व्यवस्था दोनों ही सुरक्षा प्रदान करते हैं। केंद्रीकृत राज्य के ढांचे के भीतर संघवादी स्वरूप भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की मांगों के प्रति संवेदनशील, भारतीय संविधान में समाजवादी, उदारवादी तथा बहुसांस्कृतिक मूल्यों के समावेशन ने लोकतंत्र की जड़े और भी गहरी की हैं। स्थानीय स्वशासन और उसमें महिलाओं सहित पिछड़े वर्गों को दिए जाने वाले आरक्षण ने इसे स्थायित्व एवं मजबूती दी है। इनके बावजूद भारतीय लोकतंत्र के समक्ष कई गंभीर चुनौतियां हैं – गरीबों और बेरोजगारों की विशाल संख्या, सामुदायिक हिंसा, जाति–प्रजातीय हिंसा, आज भी विचारणीय स्थिति में है। राजनीतिक–आर्थिक भ्रष्टाचार तो आज अपने सर्वोच्च शिखर पर है। राजनीतिक असहिष्णुता भी चिंता का विषय है। समाज में राजनीति अपने नकारात्मक स्वरूप में स्थापित हो चुकी है। एक सांसद जो सोचता है उसे कह नहीं सकता और जो कहता है उसे समझा नहीं सकता– या यूं कहें कि पार्टी अनुशासन के नाम पर वह कभी कुछ कहता ही नहीं। अभी भी राज्य और राष्ट्रीय राजनीति में महिलाओं का सक्रिय प्रतिशत 10 के आस–पास है। प्रताप भानू मेहता कहते हैं –भारतीय राजनीतिक व्यवस्था कुछ वैसी ही है जैसे किसी व्यक्ति को तरल ऑक्सीजन में फेक दिया जाए। तरलता उसे जीने नहीं देगी और ऑक्सीजन उसे मरने नहीं देगी। कुछ उसी तरह राजनीति हमें जीने नहीं देगी, लोकतंत्र हमें मरने नहीं देगा। लोकतंत्र के पक्ष में इसके आगे अब कोई तर्क की गुंजाइश नहीं बचती। क्यों न इसे निष्कर्ष मानकर लेखनी को विराम दिया जाय।

सदर्न्भ ग्रन्थ सूची

1. Swaha Das and Hari Nair (2011) : "The Nature and functioning of Democracy" in contemporary India (ed) N. Chandokhe and Praveen Priyadarshi, pearson, p. 219.
2. विनित कुमार सिन्हा (2009) : "हिन्दी निबन्ध, के0 बी0 सी, पृ0 54.
3. Rudalph and Rudalph (2004) : Redoing the constitutional design : Form an Interventionist to a

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.-III, Issues-37, YEAR- July-Sept. 2025

regulalory state, in The success of India's Democracy (ed) by Atul Kohli, Cambridge university press (reprinted), p.133.
4. Ibid, p 156.
5. Subrata K. Mitra, "Making social government work : Localities, Panchayati Raj and Goverance in India, in Atul Kohli (ed), The success of Indian Democracy, p. 109-10.
6. Rajni Kothari, politics in India, p. 341.
7. Granvile. Austin, The Indian constitution corner stone of Nations, p. 47.
8. Rudalph and Rudalph, 'The Modernity of Tradition, p. 11

*****